प्राचीन भारतीय नाट्य-प्रदर्शन परंपरा

नाटक और उसके प्रदर्शन के विविध पक्षों का जिस रूप में अभी तक विवेचन किया गया है उसमें एक हद तक यह निहित भी है, और इंगित भी, कि चाहे शौक के तौर पर ही सही, नाटक के कलात्मक प्रदर्शन के लिए किसी-न-किसी प्रकार का प्रशिक्षण आवश्यक है। वास्तव में, हमारे देश में नाटक और रंगमंच के नीचे स्तर का एक कारण यह भी था कि उसे विशुद्ध मनोरंजन का काम समझा जाता रहा, जिसके लिए केवल शौक चाहिए, कोई तैयारी, अध्ययन या प्रशिक्षण आवश्यक नहीं। निस्संदेह इस धारणा के ठोस कारण थे, पर फिर भी वह दुर्भाग्यपूर्ण तो है ही। विशेषकर इसलिए भी कि वह अधिकांश क्षेत्रों में आज तक मौजूद है, और बहुत से रंगकर्मी प्रशिक्षण को संदेह की दृष्टि से देखते हैं, और प्रायः प्रशिक्षण-प्राप्त या उसके आकांक्षी रंगकर्मियों की हंसी उड़ाते हैं। किंतु रंगकार्य में सचमुच विविध प्रकार की ऐसी जानकारी समझ, और उस पर आधारित सूझ, अपेक्षित है जो नियमित प्रशिक्षण के बिना सामान्यतः प्रायः असम्भव है। और यह सिर्फ रंगशिल्प के लिए ही नहीं, अभिनय के लिए भी सही है। अभिनेता की कलात्मक-सृजनात्मक अभिव्यक्ति का यंत्र—उसका शरीर और कंठ—जटिल स्थितियों और भावदशाओं को बिना पूर्व-चिंतन और पूर्व-नियोजित तैयारी के सम्प्रेषित नहीं कर सकता, चाहे वह तैयारी विभिन्न नाटकों में किसी कुशल निर्देशक के नीचे लागातार अनुभव द्वारा प्राप्त की जाये, चाहे किसी केन्द्र में प्रशिक्षण द्वारा। एक प्रकार से ऐसा प्रशिक्षण और अभ्यास प्रायः प्रत्येक कला में आवश्यक और अनिवार्य माना जाता है—संगीत, नृत्य, मूर्ति, स्थापत्य, चित्र आदि उल्लेखनीय कार्य की कल्पना ही असम्भव है। फिर रंगकला में तो इनमें से कई कलाओं का सृजनात्मक समन्वय होता है, इसलिए उसमें तो प्रशिक्षण एक सर्वथा मूलभूत और अनिवार्य आवश्यकता है।

रंगमंच के संदर्भ में यह दुश्चक्र बड़ी नाटकीयता के साथ सक्रिय हुआ। हमारे देश में रंगमंच बहुत उन्नत अवस्था में नहीं है। अधिकांश क्षेत्रों में तो नियमति प्रदर्शन

करनेवाली नाटक मंडलियाँ हैं ही नहीं, और जो हैं वे प्रायः बड़ी कठिनाई से जीवित रह पाती हैं। ऐसी स्थिति में समुदाय के अत्यन्त सीमित साधनों का उपयोग पहले नाटक मंडलियां स्थापित करने के लिए किया जाये या प्रशिक्षण केन्द्र स्थापति करने के लिए? देश के विभिन्न भागों में सक्रिय नाट्य-मंडलियों के बिना प्रशिक्षण -केन्द्रों की स्थापना का विचार गाड़ी में पीछे की ओर बैल जोतने के बराबर है, अथवा अस्पताल खोले बिना चिकित्साशास्त्र के प्रशिक्षण की योजना बनाने जैसा है। इसलिए भारतीय रंगमंच के क्षेत्र में प्राथमिकता सक्रिय नाटक-मंडलियों की स्थापना की ही हो सकती है, प्रशिक्षण के लिए बहुत बाद में।

नाट्य का उद्भव धार्मिक अनुष्ठानों से हुआ, ऋतु पर्वों से हुआ अथवा ज्ञात-अज्ञात किसी और स्रोत से ये प्रश्न भले ही विवादास्पद और अनिर्णीत हो, परंतु ये तो निश्चित ही है कि ऐतिहासिक दृष्टि से भारत के प्राचीन राज्याश्रित शास्त्रीय रंगमंच और जनाश्रित लोकरंगमंच की समृद्ध रंगधारा मध्ययुग में धर्माश्रित होकर विभिन्न प्रादेशिक रूपों में बंटकर, अनेक राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कारणों से क्रमशः क्षीण और लुप्त प्राय सी हो गयी।

यह कठिनाई इसलिए और भी तीव्र हो जाती है कि देश के विभिन्न भाषा-क्षेत्रों में रंगमंच के विकास की बड़ी असमानता है। फलस्वरूप, रंगमंचीय आवश्यकताओं में भी अंतर है, और यह अनिवार्य है कि विभिन्न भाषाई क्षेत्रों में अलग-अलग प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना पर बल दिया जाये, जो क्षेत्र-विशेष की आवश्यकताओं के अनुरूप हों। सारे देश के लिए कोई सामान्य प्रशिक्षण-केन्द्र स्थापित करने से इन विभिन्न क्षेत्रों की विशेष आवश्यकताओं और परिस्थितियों की उपेक्षा होने का डर है और ऐसे केन्द्र बहुत उपयोगी नहीं हो सकते।

प्राचीन भारतीय रंगदृष्टि का स्वरूप, मध्ययुग में उसकी विभिन्न प्रादेशिक रूपों में परिणति और सर्वथा नये संदर्भ में आधुनिक रंगमंच का उदय अपने रंगमंच के इन तीनों आयामों के बीच कोई संयोजन सूत्र खोजने, किसी निरंतरता को पहचानने और उसके द्वारा अपने आज के कार्य को अधिक सक्षम और सार्थक बनाने का जो प्रयास देश के, चाहे कुछ के ही सही, गंभीर नाट्य प्रेमियों में दिखाई पड़ता है, वह भारतीय रंगपरंपरा के आत्मपरिचय का अनुसंधानात्मक रूप ही है।

हमारे देश में सार्थक रंग-प्रशिक्षण वही होगा जिसमे आग्रह भारतीय दृष्टि, भारतीय पद्धतियों पर तो हो, पर उनके माध्यम से आधुनिक यथार्थ को अभिव्यक्त करने का प्रयास हो, जिसके लिए जरूरत होन पर, उन पद्धतियों को पाश्चात्य पद्धति के साथ यथासंभव किया जाये। हम अपने अभिनेता को विभिन्न भारतीय शैलियाँ

Scanned by CamScanner

तथा पद्धतियां सिखायें, उनके जीर्णोद्धार अथवा उनकी पुरातत्त्वीय विशिष्टता अथवा अजायबघरी नवीनता के लिए नहीं, बल्कि आधुनिक यथार्थ की अभिव्यक्ति और प्रस्तुति के उद्देश्य से उनके ऐसे सृजनशील तत्त्वों को आत्मसात करें जो हमारी अपनी मूलभूत रंग पद्धति के निर्माण, स्वरूप निर्धारण और विकास की दृष्टि से उपयोगी हो सकते हों। प्रश्न पश्चिमी पद्धतियों और विधियों के बहिष्कार का नहीं, बल्कि अपनी परंपरा और सृजनात्मक आवश्यकताओं के लिए उनके कल्पनाशील और सतर्कतापूर्ण उपयोग का है। हमारे प्रशिक्षकों के लिए यह संभव होना चाहिए कि वे भारतीय परंपरा और सृजनात्मक आवश्यकता के संदर्भ में पश्चिमी पद्धतियों के अन्वेषण और पश्चिमी पद्धतियों की पृष्ठिभूमि में कुछ भारतीय विधियों और शिल्प-शैलियों के भी उपयोग के बीच अंतर को पहचान सकें।

प्रशिक्षण पाठ्क्रमों के निर्धारण में एक अन्य समस्या नाटक-साहित्य, अभिनय-कला और रंगशिल्प के बीच अनुपात और संतुलन की भी है। स्पष्ट है कि भाषाई क्षेत्रों के प्रशिक्षण कार्यक्रमों में प्राथमिक महत्त्व अभिनय कला पर ही होगा। रंगमंच की ओर उन्मुख होनेवाले अधिकांश व्यक्तियों की रूचि अभिनय में ही होती है और यह स्वाभाविक है। उनके पाठ्यक्रमों में अभिनय कला और नाटक साहित्य पर ही बल होना उचित है।

नाटक की शास्त्रीय युक्तियों को प्रयुक्त करते नाटक, हमारे देश में दो ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व विशेष पर्वों पर आयोजित किये जाते थे। इनकी वार्षिक स्पर्धाएँ आयोजित कर नाटकों और अभिनेताओं को पुरस्कृत किया जाता था। नाट्यकला में मर्मज्ञ और विद्वान समाज में सम्मानित थे। ऐसे ही दौर की उत्पत्ति थी संस्कृत नाटकों का स्वर्ण युग। दो हजार वर्ष पूर्व से नौवीं सदी तक अनेक नाटककार इस स्वर्ण युग के अनूठे रत्न थे।

संस्कृत नाटक और रंगमंच की परंपरा विश्व की प्राचीनतम एवं समृद्ध परंपराओं में से एक हैं और यह समृद्धि एक लंबे दौर तक चली जिसमें नाटक और रंगमंच दोनों में ही तरह तरह के प्रयोग किये गये। भरत के नाट्यशास्त्र जैसा रंगकर्म के सर्वांगीण विवेचन विश्लेषण का सूक्ष्म और विशद ग्रंथ शायद ही कोई और हो। महाकवि भास से लेकर शूद्रक, कालिदास अश्वघोष, हर्षवर्धन, भवभूति, विशाखादत्त, भट्टनारायण, मुरारि और राजशेखर तक रंग प्रयोगों की जो वैविध्यपूर्ण एवं संपन्न परंपरा अविरल चलती रही, वह राजनीतिक सामाजिक कारणों से दसवीं शताब्दी तक आते-आते विच्छिन हो गई। यह परंपरा दीर्घ काल तक चलने के बाद टूट गयी, नष्ट-भ्रष्ट हो गयी। आज उसके प्रमाण या स्वरूप के विवरण अथवा उदाहरण या तो

सिद्धांत ग्रंथों में उपलब्ध हैं या संस्कृत नाटकों में निहित हैं। उनके व्यवहार की, चाहे जितने परिवर्तित, संशोधित रूप में ही सही, निरंतरता और अविच्छिन्नता नहीं बनी रह सकी, जिससे आज का रंगकर्मी सीख सके और विद्रोह कर सके, जिसे अपने कार्य में आत्मसात कर सके। ऐसी स्वीकृति और अस्वीकृति दोनों ही किसी भी सृजन कार्य को ऐसी अर्थवत्ता और गहराई देती हैं, संप्रेषण में ऐसी सार्विकता और तीव्रता देती हैं, जो अन्य किसी भी उपाय से नहीं मिल सकती।

Scanned by CamScanner

पारंपरिक लोक रंगमंच

भारत बहुजातीय, बहुसांस्कृतिक, बहुरंगी देश है। अनेक लोक कलाएँ, लोकनाट्य रूप इसके विभिन्न प्रान्तों में बिखरे पड़े हैं। इतनी विविधता के बावजूद भारतीय लोकनाट्यों में एक जबरदस्त एकता दिखाई देती है। यह एकता शिल्प के स्तर पर संगीत की प्रधानता कथावस्तु अथवा सूत्रधार या विदूषक के रूप मे दिखाई देती है। लगभग सभी, लोकनाटक किसी-न-किसी रूप में नाट्यशास्त्र के पूर्वरंग की विधि का पालन करते हैं। लोक-नाट्य से तात्पर्य नाटक के उसे रूप से है, जिसका विशिष्ट शिक्षित समाज से भिन्न सर्वसाधरण के जीवन से है, जो परंपरा से अपने क्षेत्र के जनसमुदास के मनोरंजन का साधन रहा है।

लोकनाटकों को भारतीय जातीय संस्कृति का प्रामाणिक दस्तावेज माना जा सकता है, क्योंकि यह अपने स्थानीय तत्वों के सहारे अपना रंग-विधान खड़ा करता है और हमारी जातीय सांस्कृतिक चेतना के बीज इन्हीं 'लोकल' जमीनों से अपना रस लेकर हमारी रंग-अस्मिता को समृद्ध करते हुए, वैश्विक मंच पर आते हैं। लोक-रंगमंच जीवन के उमंग की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।

9-10वीं शताब्दी में संस्कृत नाटक की परंपरा के क्षीण हो जाने पर, जो असंबद्ध अविहित और असंगठित नाट्य-धारा विकसित हुई, उसके दो प्रमुख रूप हैं- एक में पूजा कीर्तन के साथ मंदिरों में लीला-शैली के नाटकों का जन्म हुआ और दूसरे प्रकार करते हुए नटों और कलाकारों ने प्रहसन शैली के सामाजिक, लोक-परक नाटकों को जन्म दिया। मध्ययुगीन नाट्य-परंपरा की यही दो प्रमुख धाराएँ आधुनिक लोक-नाट्य के अनेक रूपों और शैलियों में दिखाई देती है। मध्ययुगीन परंपरा ने कई विधि बहुरंगी रंगमंच को जन्म दिया।

भारतीय लोक नाट्य-परंपरा की प्राचीनता विविधता, शक्ति और समृद्धि निर्विवाद है। आभिजात्य सौंदर्य-बोधयुक्त नाट्यधर्मी नाटकों के शास्त्र-प्रणेता भरतमुनि ने भी नाट्य की मूल प्रेरणा और उसकी प्रामाणिकता की अंतिम कसौटी लोक-जीवन

लोक-मानस और लोक-धर्म को स्वीकार करके 'लोक' के ही बुनियादी महत्व को रेखांकित किया है।

भारतीय इतिहास के मध्ययुग में, जबकि शास्त्रीय नाट्य-परंपरा विच्छिन्न अथवा लुप्त प्रायः सी हो गई थी; हमारी बहुरूपी और बहुरंगी लोक नाट्य परंपरा फिर भी अक्षुण्ण एवं प्राणवान बनी रही। लोक नाटकों के उदय की पृष्ठभूमि के बारे में बलवंत गार्गी का मत है कि—"संस्कृत नाटक विद्वानों, श्रेष्ठियों और दरबारियों के लिए था। इसकी भाषा बहुत गूढ़ और अलंकृत होती थी। यह जनसाधारण के जीवन में घुला-मिला रहा है। समय के साथ-साथ यह अपना रूप बदलता और बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार अपने आपको ढालता रहा है।"

ऐतिहासिक दृष्टि से स्वतंत्रता के बाद जब हमने हर क्षेत्र में अपने निजी और मौलिक स्वरूप की पहचान का प्रयत्न शुरू किया तो रंगमंच के क्षेत्र में भी भारतीय रंगमंच और नैतिक रंगदृष्टि की खोज शुरू हुई। परंपरा और प्रयोग के सार्थक संबंध-सूत्रों के अनवेषण और उनके आधुनिक उपयोग के संदर्भ में शास्त्रीय और व्यावहारिक दोनो स्तरों पर देशव्यापी हलचल महसूस की गई। बहुविध पाश्चात्य प्रभावों से आक्रांत इस देश मे उस समय कुछ प्रबुद्ध एवं जागरूक कला, मनीषियों ने आत्म-परिचय और आत्म साक्षात्कार के लिए अपनी जमीन, अपनी मिट्टी और अपनी जड़ों से जुड़ने की आवश्यकता पर अत्यधिक बल दिया और रंगकर्म को भावुकता पूर्ण सतही यथार्थ या उथले मनोरंजन के सामान्य साधन के स्तर से ऊपर उठाकर इसे जीवन के गहन-गंभीर एवं सूक्ष्म अनुभव को गहरे अर्थ-वैभव और काव्यात्मकता से युक्त करने वाले एक जीवंत एवं प्रभावशाली अभिव्यक्ति माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित करने का आग्रह किया।

आत्मान्वेषण की इस प्रक्रिया में कुछ प्रतिभावान रंगकर्मियों को संस्कृत की शास्त्रीय नाट्य-परंपरा की अपेक्षा अपनी लोक-रंग परंपरा से जुड़ना अधिक सहज और सार्थक प्रतीत हुआ। ब.व कारंत के अनुसार- "हमारा लोक, रंगमंच चूंकि जीवंत रंगमंच है, इसीलिए आज हमें वही प्रेरणा दे सकता है, न कि शास्त्रीय रंगमंच। शास्त्रीय रंग-परंपरा का प्रयोग हम केवल दार्शनिकता या सिद्धांत के स्तर पर ही कर सकते है। इसके अतिरिक्त, हम कितने भी आधुनिक या शहरी क्यों न हो जाए, पर आज भी हमारी जड़ें गांव में ही हैं, हमारी 'इंटिक्टीविटी' का संबंध आज भी गांव से ही है। इसीलिए भारतीय रंगमंच की खोज में लोक रंगमंच से जुड़ना मुझे सही लगता है।"

अतः यह स्पष्ट है कि आधुनिक काल के आरंभिक दौर से लेकर आज तक अंग्रेजी और दूसरे पाश्चात्य नाट्य-प्रभावों से अत्यधिक प्रभावित होने के बावजूद हमारे

Scanned by CamScanner

रंगकर्म का एक महत्वपूर्ण हिस्सा अपने नाट्य-प्रयोगों के लिए अपने वैविध्यपूर्ण एवं प्राणवान लोक नाट्य-रूपों में प्रेरणा ग्रहण करता रहा है और कर भी रहा है। हिंदी के आरंभिक नाटक किसी-न-किसी रूप में अपने पारंपरिक लोक-नाट्यों रूपों से प्रभावित थे। भारतेंदु हरिश्चन्द्र के 'अंधेर नगरी', 'भारत दुर्दशा', चन्द्रावली' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' आदि अधिकांश नाटक परंपरागत और पाश्चात्य नाटक का मिश्रण है।

किसी भी परंपरा का जब उद्भव होता है तो उसका कोई-न-कोई उद्देश्य अवश्य रहता है। पारंपरिक अथवा लोक नाटकों का उद्देश्य न केवल मनोरंजन करना या बल्कि गांव वालों को जानकारी प्रदान करना, सामाजिक, कुरीतियों से परिचित कराना, ज्ञानवर्धक बातों का साधन माना जाता था। चूंकि उस समय जनसंचार का ऐसा कोई माध्यम नहीं था जिससे लोगों को जागरूक कराया जा सके, उनके अन्दर देशभक्ति की भावना का संचार कराया जा सके तो यही पारंपरिक नाटक मण्डलियाँ विभिन्न शहरों, कस्बों, गांवों में जाकर अपने नाटकों एवं प्रदर्शनों के माध्यम से लोगों जनता को सचेत करते थे। इन पारंपरिक लोक-नाटकों में रामलीला, रासलीला, नौटंकी, स्वांग, ख्याल, माच, जात्रा, तमाशा, सांग, भवई, यक्षगान, मुक्कड नाटक आदि आते हैं। इन पारंपरिक नाटकों का उद्देश्य धर्म से जुड़ी सारी जानकारियाँ लोगों तक पहुंचना भी था।

लोक का अर्थ है वह रंगमंच जो आम लोगों का हो, जिस पर किसी विशिष्ट समुदाय एवं विशिष्ट जन का अधिकार न हो तथा हर लोक विधा के खुले आम प्रदर्शन की सुविधा विद्यमान है वही लोक रंगमंच है। डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने रंगमंच की प्रकृति को स्पष्ट करने की चेष्टा की है अपने प्रत्यक्ष अर्थों में रंगमंच किसी विषयवस्तु को, अभिनय द्वारा प्रदर्शन करने की कला है। इसके लिए न किसी विशेष रंगशिल्प की आवश्यकता है, न मंच की, न किसी रंग शिल्प की, क्योंकि रंगमंच की प्रतिष्ठा उसकी रचना, उसका प्रयोग कहीं भी किसी भी भूमिखण्ड पर हो सकता है। वस्तुतः यही पारंपरिक रंगमंच की मूल प्रकृति है।

कई विद्वानों का मत है कि लोक रंगमंच कोई रंगमंच ही नहीं है। उनकी मान्यता है कि लोक की समस्त सामग्री गांव के चौराहों, सड़कों एवं मंदिरों के प्रांगणों में प्रस्तुत होनी चाहिए, किसी विशिष्ट रंगमंच पर नहीं। किंतु ऐसा नहीं है लोक रंगमंच हर राज्य में किसी-न-किसी स्थिति में विद्यमान था और है जैसे—बिहार में 'बिदेसिया' हरियाणा में 'स्वांग' उत्तरप्रदेश में 'रामलीला' मध्यप्रदेश में 'नौटंकी' आदि। ये सभी नाटक संस्कृति के परिचायक हैं।

लोक-नाटक परंपरागत संस्कृति की अत्यंत समृद्ध अभिव्यक्ति है। लोक-नाटक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनका जन्म परंपरागत संस्कृति के मध्य में होता है और वह बराबर उसी के परिवेश में स्थित रहता है। पारंपरिक संस्कृति के रूप परिवर्तन के साथ-साथ लोक नाटक अपनी सहज गतिशील प्रवृत्ति के कारण संस्कृति के नए-नए तत्वों को ग्रहण करता रहता है और अपनी कलाशक्ति अक्षुण्ण रखता है। नृत्य और संगीत की ही भांति लोक-साहित्य की इस शाखा में राष्ट्रीय संस्कृति की सच्ची झांकी मिलती है।

हिंदी क्षेत्र के रामलीला, रासलीला, नौटंकी, भगत, स्वांग, नकल, भडैती, ख्याल, माच, नाच, जात्रा, कुचिपुड़ी नृत्य, कठपुतली, यक्षगान, गरबा, तमाशा आदि जैसे—लोक-नाट्य रूप किसी भी दृष्टि से अपेक्षाकृत बहुचर्चित एवं लोकप्रिय नाट्य रूपों से हेय अथवा कम महत्वपूर्ण नहीं है। यह बात अलग है कि हमने अविलंब आधुनिक बनने की धुन में अपने इन बहुरंगी लोकनाट्य-रूपों के संरक्षण और विकास की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। फिर भी, आधुनिक भारतीय नाटक और रंगमंच की सर्वाधिक उल्लेखनीय महत्वपूर्ण एवं सार्थक उपलब्धियों के मूल में कहीं-न-कहीं इन लोक नाट्य रूपों या लोक-नाट्य तत्वों के रचनात्मक उपयोग का निर्णायक योगदान अवश्य रहा है।

पारंपरिक लोक नाटकों की दूसरी विशेषता उनकी बहुप्रयोजनमयी पात्र कल्पना है। नाटकीय पात्र कई प्रकार के काम करते हैं। वे साहित्यिक नाटकों के समान केवल नाटकीय कार्य-व्यापार का वहन और संवाद द्वारा कथा का उद्घाटन ही नहीं करते, बल्कि वे कभी तो नाटकीय कथा का वर्णन करते हुए उसके गायक और आख्याता बन जाते है, कभी किसी विशेष भाव अथवा आदर्श के प्रतीक बन जाते है, तो कभी वे नाटक के पूर्व रंग के संयोजक का कार्य करते हैं, तो कभी रंगकर्मी के रूप में दृश्य-सज्जा की सामग्री रंगमंच पर लाते हैं, कभी वे पात्रता छोड़कर नाटककार के प्रवक्ता बन जाते हैं और अनेक कथा स्थितियों पर टीकाएँ तथा व्याख्याएँ करते हैं तथा निर्णय देते हैं।

लोक नाटकों में साहित्यिक नाटक के समान ही संवादों का प्रमुख प्रयोजन कथा का उद्घाटन करने तथा पात्रों में विचारों, भावों तथा आशयों को व्यक्त करना होता है। इनमें से बहुत से पद्य संवाद ऐसे होते हैं जो नाटक किसी विशेष पात्र की उक्तियाँ नहीं होते, नाट्य-प्रदर्शन के समय इन संवादों को कोई पात्र गाने लगता है और उनके गायन की इस प्रक्रिया में ही उनमें पात्रगत विशेषता आ जाती है। संवाद का बहुत सा अंश केवल अलंकारिक होता है और वह नाटक के काव्य संगीत तत्वों को समृद्ध करता है।

Scanned by CamScanner

ये लोक-नाटक संगीत प्रधान होते हैं। इसमें ढोल, तबले, हारमोनियम, पखावज, नगाड़ा, आदि का भी प्रयोग किया जाता है। लोक-रंगमंच पर सादी प्रकाश व्यवस्था होती है। प्रकाश हेतु दीपक, पेट्रोमेक्स के साथ अब बिजली के प्रकाश का प्रयोग भी होने लगा है। लोक-रंगमंच के पात्रों की वेश-भूषा ही सीमित साधनों के कारण सस्ती और सादी ही होती है। इसी प्रकार मंच-सज्जा से भी ज्यादा तड़क-भड़क नहीं होती है। वहां न तो पट्ट-परिवर्तन होता है न दृश्य-परिवर्तन। पारंपरिक नाटकों में प्रारंभ में नान्दी पाठ या मंगलाचरण, गणेश वंदना और अंत में भरतवाक्य का प्रयोग होता है। और किसी-न-किसी नाटक में सूत्रधार भी होता है जो नाटक के घटना को जोड़ता है।

लोकनाटकों में यात्रा, भगत, स्वांग, नौटंकी, ख्याल, माच, भवई, दशावतार, बुर्रकथा, यक्षगान, करियाला, अंकिया नाट जैसे विभिन्न स्तर के परंपरागत नाट्य शैली पाते हैं। इन सभी लोक नाटकों में नाट्य-रूपों की विषयवस्तु और कथावस्तु, एक ओर तो मुख्यतः पौराणिक, धार्मिक, ऐतिहासिक अथवा लोकवार्ता के स्त्रोतों से प्राप्त है और दूसरी ओर अपने-अपने क्षेत्र की तात्कालिक सामाजिक परिस्थितियों से संबंधित है। सामान्यतः पारंपरिक रंगमंच के नाटक रामायण, महाभारत और भागवत तथा अन्य पुराणों के ही विभिन्न प्रसंगों और कथाओं पर आधारित है। वे इस देश के लोक-मानस की सामान्य संस्कारगत धारणाओं और विश्वासों से ही संबंधित रहे हैं।

रंगरचना की दृष्टि से भी अधिकांश पारंपरिक नाट्यों में बहुत सी बातें समान है। इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण सामान्य विशेषता है उनमें संगीत, गीत, नृत्य का प्रयोग। मूलतः सारे के सारे नाट्य-रूप इतने संगीतात्मक हैं कि कभी-कभी और कुछ-कुछ तो एकदम संगीत नाटक कहलाते हैं। प्रारंभ से अंत तक मंच पर बैठे हुए वादक प्रत्येक पारंपरिक नाट्य के अनिवार्य अंग हैं। नृत्य कली गतियों का भी प्रयोग प्रत्येक नाटक में पाया जाता है।

नाट्य-लेखन में विजय तेंदुलकर का 'घासीराम कोतवाल' सतीश आलेकर का 'महानिर्वाण' गिरीश कनार्ड का 'हयवदन' चन्द्रशेखर कंबार का 'जोकुमार स्वामी' मणि मधुकर का 'रसगंधर्व' सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'बकरी' अरूण मुखर्जी का 'मारीच सवांद' में पारंपरिक नाटकों की पद्धतियाँ, रूढ़ियाँ, युक्तियाँ तथा बनावट का प्रयोग हुआ है, जिनमें यथार्थ-अथार्थ, लौकिक-अलौकिक के मिश्रण और फैंटेसी तथा अनुष्ठानिक क्रियाओं के अलावा काव्य, गीत, सूत्रधार, वाचक आदि पारंपरिक रंग व्यवहारों क प्रयोग है। प्रदर्शन और अभिनय में तो एक नई भारतीय रंग शैली ही रूप ले रही है जो संगीत, नृत्य, देश काल की रूढ़िमूलक अभिव्यक्ति, वस्तुओं और

स्थानों के अभिनटन, मुखौटे तथा अन्य कई प्रकार की रीतिबद्धता द्वारा पारंपरिक नाट्यों के नए सृजनात्मक प्रयोग पर आधारित है। यह ब.व.कारंत, जब्बार पटेल, सतीश आलेकर, रतन थियम, कावालम नारायण पाणिकर, बंसी कौल और हबीब तनवीर आदि की प्रस्तुतियों में है। महत्वपूर्ण बात यह है कि इन सभी प्रयोगों में पारंपरिक नाट्यों की रूढ़ियों-पद्धतियों का इस्तेमाल किसी चालू फैशन या अंधे परंपरा प्रेम के कारण नहीं, बल्कि एक सृजनात्मक भावबोध और कलात्मक विवेक पर आधारित है।

पारंपरिक नाटकों की इतनी सारी विशेषता के बावजूद इसकी स्थिति आज ठीक नहीं है। आधुनिक रंगमंच के मौजूदा दौर में हमें लोक-नाट्य की ओर उन्मुख होने की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही उसके प्रति एक स्वस्थ और दायित्वपूर्ण दृष्टिकोण अपनाने की भी है। तभी हम अपने प्रत्यनों को सार्थक और महत्वपूर्ण बनाने में सफल हो सकेंगे। भारतीय लोक-नाट्य की विरासत को आगे बढ़ाए बिना हम संपूर्ण भारतीय रंगमंच की परिकल्पना साकार नहीं कर सकते हैं।

समग्र रूप से कहा जा सकता है, लोक रंगमंच निरंतर प्रवाहित होने वाली एक जीवंत धारा है, जिसकी जड़े अतीत की गहराईयों में जाकर घुसी होती है, किंतु उसमें नित्य नयी लताएँ, नयी पत्तियाँ निकलती रहती है। हिंदी रंगमंच और संस्कृति के इतिहास में इसका बड़ा महत्व है।

Scanned by CamScanner